International Journal Of Creative Research Thoughts
Volume 1, Issue.2,Feb. 2013
ISSN:-2320-2882
ORIGINAL ARTICLE

लोक साहित्य एवं संस्कृति

सविता डहेरिया

सारांश

हिन्दी साहित्य के इतिहास के पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि आदिकाल का साहित्य गाथा नहीं लोकगाथा है। आदिकाल के अधिक साहित्य पहले मौखिक परंपरा में ही प्रचलित थे। बाद में लिपिबद्ध हुए इनके पाठ भेद व प्रषिप्त अंश प्राप्य हैं। आल्हा की गाथा से अधिक इसका लोकगाथा रूप प्राचीन और लोकप्रिय है। 'ढोला मारू रा दूहा' आज भी राजस्थान की लोकगाथा के रूप में मूल्यांकित है, जिसका मध्यप्रदेश में मालवी और छत्तीसगढ़ी रूप भी प्रतिष्ठित है। 'मारू' का एकनाम 'मालवणी' भी प्रचलित है जो मालवा की नायिका प्रतीत होती है। गाथाओं और लोक गाथाओं से महाकाव्य का रूप संवरता है। भक्तिकाल में इसकी स्वस्थ परम्परा मिलती है। 'पद्मावत' और 'रामचरित मानस' इसके उदाहरण हैं। कबीर का काव्य पहले लोकगीत के रूप में लोकप्रिय हुआ है। बाद में कबीर के अनुयायियों ने उसे लिपिबद्ध कर शिष्ट काव्य का रूप दिया।

प्रस्तावना

कबीर के काव्य में विश्रृंखलित भाव व विचार तथा शिल्पगत शिथिलता का एक कारण लोकगीत का मूल रूप में व्यवहृत होना भी है। आधुनिक साहित्य भी लोक साहित्य के यथावसर अनुप्राणित व यत्किंचित प्रभावित रहा है। हमने लोक गाथाओं को अवदान, साका, राग या किस्सा के नाम से अभिहित किया है। इस साहित्यिक विधा का एक नाम राजस्थानी में ख्यात भी प्रचलित है। ये ख्यातें रासो से भिन्न वस्तु है। रासो साहित्यिक वीर कथाएं हैं और ख्यातें मौखिक कथाएं हैं। ये लोक गाथाएं दो रूपों में मिलती हैं। एक प्राचीन पुरूषों की शौर्य की कहानियां हैं जिन्हें वीरगाथा कहा जा सकता है। इन्हें ही 'पंवारा' भी कहते हैं, यथा – 'जगदेव का पंवारा'। इनमें पुराण पुरूषों का अस्तित्व निर्विवाद लिया जाता है। दूसरे–साके। ये उन पुरूषों के शौर्य से सम्बन्धित हैं, जिनके प्रति इतिहास साक्षी है। साके में जीवन तथा शौर्य का विस्तार अपेक्षित है। 'काल्पनिक कथाएं' वास्तव में, वैसी नहीं जैसी दिखाई देती हैं। हमारे धर्मोपदेष्टा चूहे और मृगशावक भी हो सकते हैं। हम उपदेश सुनते–सुनते ऊंघने लगते हैं, किन्तु शिक्षाप्रद कहानियों को प्रसन्नतापूर्वक पढ़ते हैं और वर्णन का खूब आनन्द लेते हैं। भारतीय कथा साहित्य में इस प्रकार के आख्यानों की कमी नहीं है। विष्णु शर्मा का पंचतंत्र और हितोपदेश शशश्रृंगाल–काको लूक के मध्य चलने वाले जीवनोपयोगी आख्यान ही तो हैं। भारत के ये आख्यान संसार के श्रेष्ठतम फेबिलस् में से हैं। इनकी यही विशेषता है कि इनमें किसी न किसी प्रकार की शिक्षा अवश्य मिलती है। यहां इतना और ध्यान देना चाहिए कि प्रत्येक वह कहानी जिसमें पशु पक्षी किसी भी रूप में आये हैं तंत्रमूलक अथवा नीतिमूलक कहानी नहीं कहला सकती। फेबलस् वे ही कहानियां हैं जिनमें नीति बतलाई गई है अथवा कोई सुनिश्चित उपदेश दिया गया है। बौद्ध जातकों में आई हुई वे पशु–पक्षी संबंधी कहानी कदापि तंत्राख्यान नहीं कहलायेंगी। कारण कि वे धर्मभावना को जागृत करके चुप हो जाती हैं और उनका आदर धर्म–श्रद्धा से होता है। लोक साहित्य के कथा भाग पर विचार कर चुकने पर लोक गीत और लोक कहावतें, पहेलियां आदि रहती हैं। लोकगीत, लोकमानस के वे अजस्त्र एवं निष्छल प्रवाह हैं, जिनका प्रतिभा के द्वारा विभिन्न अवसरों पर निर्माण होता है एवं गान होता है। संक्षेप में लोकगीत लोक द्वारा लोक के लिए गाया गया गीत होता है। लोक गीतों की संख्या इतनी हो सकती है, जितने जीवन के पहलू हैं। फ्रेंक सिजविक के ये शब्द कितने तथ्यपूर्ण हैं कि लोक साहित्य का लिपिबद्ध होना ही उसकी मृत्यु है। वस्तुतः लोक साहित्य की मौखिकता ने ही उसे व्यापकता एवं अनेक रूपता प्रदान की है। इसी बात को प्रो. किटरेज ने 'इंगलिश और स्काटिश बैलेड्स' की भूमिका में इस प्रकार कहा है – 'लोक–साहित्य का शिक्षा से कोई उपकार नहीं होता ..... जब कोई जाति पढ़ना सीख लेती है, तो सबसे पहले वह अपनी परंपरागत गाथाओं का तिरस्कार करना सीखती है। परिणाम यह होता है कि जो एक समय सामूहिक जनता की सम्पत्ति थी, वह अब केवल अशिक्षितों की पैतृक संपत्ति मात्र रह जाती है।' लोक साहित्य, पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है, वह है उसकी अनलंकृत शैली। लोक साहित्य का गंभीर अध्ययन जीवन और जगत् की मौलिक एवं प्रमाणिक खोज के लिए अत्यंत आवश्यक है। किसी देश व समाज के प्राचीन रूप को झांक देख लेने का अनुपम साधन लोक साहित्य है। जब श्रावण मास में चंदन के रूख पर रेशम की डोर से झूला डालने की मांग हरियाणा की नवोढ़ा करती है, बटेऊ (अतिथि, विशेषकर जामाता) के पधारने पर सोने की कढ़ाई में पूरियां उतारने की बात कही जाती है तो बरबस मन समाज के विगत् वैभव विलास की ओर खिंच जाता है, भले ही ये समाज की आदर्श कल्पनाएं रही हों, किन्तु जनमानस में ये वस्तुएं रही अवश्य हैं। लोक साहित्य का सामाजिक मूल्य बहुत अधिक है। डॉ. वैरियर एलविन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फोक्सांग्स् ऑफ मैकलिस्' में एक स्थान पर लोकगीतों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि – 'इनका महत्व इसीलिए नहीं है कि इनके संगीत, स्वरूप और विषय में जनता का वास्तविक जीवन प्रतिबिम्बित होता है, प्रत्युत इनमें मानवशास्त्र के अध्ययन की प्रमाणिक एवं ठोस सामग्री हमें उपलब्ध होती है।'

समाज में लोक द्वारा किसी विशिष्ट अवसर, परिस्थिति, उत्सव, अनुष्ठान एवं संस्कार के समय होने वाली अनुभूतियों की मधुर लययुक्त अभिव्यक्ति को लोकगीत कहते हैं। लोकगीत लोक में प्रचलित, लोक द्वारा निर्मित और लोक से संबंधित है। लोक गीत स्वतः जन्मा होता है। इनमें एक ओर तो मानव अनुभूतियों का उल्लास मुखरित होता है दूसरी ओर मानव मन की पीड़ा भी फूट पड़ती है। इनमें लोक मानस के जीवन के परम्परागत, स्वतः स्फूर्त, स्वच्छ, भाषायुक्त, हृदय की भावोच्छासमयी, तीव्र, लयबद्ध अभिव्यक्ति है, जो आगे लोकगीत के रूप में विकसित होती है। लोग इसे अपने ही गीत के रूप में स्वीकार कर लेते हैं जो लोक में प्रचलित हो जाता है। इसमें भाषा की प्रधानता है, लय इन

Please cite this Article as : *सविता डहेरिया ,लोक साहित्य एवं संस्कृति* **: International Journal Of Creative Research Thoughts (Feb. ; 2013)**

भावों को अद्‌भुत सौन्दर्य और सम्प्रेषणीयता प्रदान करती है। हाड़ौती लोकगीतों में वर्णित मान्यतायें भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्यों का ही एक अंग है। इनमें मानव व्यवहार व उसके कार्य कलाप आदर्श रूपों में निहित हैं। हाड़ौती लोकगीतों में संस्कृति की विशेषताएं वर्ण्य विषय, वर्गीकरण, लोकवाद्य, वेशभूषा व लोक नृत्यों का विवरण और हाड़ौती प्रदेश का नामकरण भौगोलिक स्थिति, हाड़ौती भाषी स्थिति, हाड़ौती भाषी क्षेत्र, हाड़ौती बोली का स्वरूप, प्रदेश की सभ्यता व संस्कृति का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। मृत्यु–संस्कार, जन्म के लोकगीतों में शिशु व दोहद पर होने वाले रीति–रिवाजों का सांस्कृतिक प्रभाव, जन्मोत्तर लोकगीतों में जन्म के पश्चात् व विवाह से पूर्व होने वाले समस्त संस्कारों से प्रभावित जीवन, विवाह संस्कार संतति का आधार है। इसका जीवन से घनिष्ठ संबंध है। इसमें सम्पन्न होने वाले समस्त संस्कार वर–वधू की मानसिक परीक्षा, सामाजिक व्यवहारों के महत्व का धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि प्रभावों का निरूपण इन गीतों में पाया जाता है।

सुआगीत छत्तीसगढ़ नारियों के सुख–दुख, हर्ष–विषाद, तीज–त्यौहार पारिवारिक जीवन के आसंग–प्रसंग, संयोग–वियोग, आशा–निराशा को अभिव्यक्ति देता है। दीपावली और गौरी–गौरा उत्सव के पूर्व कृष्ण–पक्ष से सुवा नृत्यगीत कुमारी कन्याओं और विवाहित स्त्रियों द्वारा टोलियों में गायी–नाची जाती है। एक छोटी टोकरी में धान रखकर उस पर मिट्‌टी के दो सुग्गे अथवा तोते को सजाकर रखा जाता है। ये सुग्गे क्रमशः महादेव व पार्वती के प्रतीक माने जाते हैं तथा धान के ऊपर मिट्‌टी का दीपक भी सज्जित किया जाता है। इस सम्पूर्ण सामग्री को लाल रंग के कपड़े से ढंककर सुग्गी के रूप में लड़की सिर पर टोकरी को धारण कर टोलियों के साथ घर–घर पहुंच कर और बीच आंगन में टोकरी रखकर उसके चारों ओर वृत्ताकार संरचना में खड़ी हो जाती हैं। टोकरी के ऊपर से कपड़ा हटा लिया जाता है। सांध्य–बेला में दीप जलाकर सुग्गे को संबोधित करती हुई उसी की तरह फुदकती है –

री रीना रीना रिहन रीना रीना मोर सुवा हो,
री रीना रिहान यार मोर सुवा हो,
री रीना रिहान याऐ।
ऊंचे चबुतरा में बैठे राजा दशरथ मोर सुवा हो,
पथुरथे बंगला के पान मोर सुवा हो,
पथुरथे बंगला के पान ।।1 ।।

री रीना रीहान याऐ मोर सुवा हो,
री रीना रिहान यार,
बीच आंगना में है तुलसी के बिरवा मोर सुवा हो,
आलिन मालिन फेंका डार मोर सुवा हो,
आलिन मालिन फेंका डार ।।2 ।।

री रीना रीहान यार मोर सुवा हो,
री रीना रिहान यार,
एक फूल ला टोर के मैं नैवता भेजायो,
मोर सुवा हो,
मामा, मामी के देश, मोर सुवा हो,
मामा, मामी के देश ।।3 ।।

कभी–कभी दो दलों में बंटकर प्रश्नोत्तर–शैली में अपनी मनोःव्यथा अथवा कृष्ण–राममय चरित्र का गायन करती हैं। छत्तीसगढ़ अंचल में सुवा गीता को मूलतः आदिवासी संवर्ग की नारियां अथवा गोंड जाति की कन्याएं गाती हैं, किन्तु इसकी लोकप्रियता के कारण इसमें अन्य जातिय संवर्ग की नारियां भी जुड़ती चली गयी। सारथी अथवा घसिया प्रजाति की नारियां इसे अपनी जातीयगत नृत्यगीत स्वीकारती हुई गाती हैं। यह छत्तीसगढ़ का नारी प्रधान लोकनृत्य गीत है। पुरूष प्रधान समाज में नारी को द्वितीय स्तर प्रदान किया गया है, तथा उसे एक हाड़–मांस की इकाई मानकार उसकी इच्छा अनिच्छा को दर–किनार कर विवाह–बंधन में एक अनजाने–अनचिन्हें व्यक्ति से बांध दिया जाता है। यही व्यथा–कथा इन लोकगीतों में आक्रोश और निवेदन के स्वर में अभिव्यंजित है, इसलिए इन सुवागीतों में नारी–मन का कोमल, हृदयगत मालिन्य वेदना, अश्रुसिंचित तारल्य है। यह लोकगीत मूलतः विरह प्रधान लोकगीत है, जिसमें करूणा दीनता का स्वर अपने भावेश और आवेग में उपस्थित होता है। यह नारी के संदेश को नर तक पहुंचाने वाले संदेश वाहक सुग्गा को संबोधित लोकगीत है। विरह कातरता व संदेश संप्रेषण विरहिणी नायिका सुवा के माध्यम से प्रेषित करती रही हैं। कालिदास ने मेघों द्वारा अपनी संदेश व्यंजना नायिका के द्वारा की है। इसी तरह कलतर भी संदेश–सम्प्रेषण का माध्यम प्राचीन युगों से बना था। आल्हा–उदल की वीर आख्यानात्मक काव्य में भी सुग्गा जहां संदेश सम्प्रेषण का कार्य करते हुए चित्रित है, वहीं पद्‌मावत के अन्तर्गत हीरामन सुग्गे का चित्रण इसी परम्परा का निर्वहन करता प्रतीत होता है। अन्य पौराणिक कथा–संदर्भों में और छत्तीसगढ़ी लोक–कथाओं में सुवा द्वारा मनुष्य की सहायता का वर्णन मिलता है। संभवतः इसी विशेषता के कारण मनुष्य ने सुग्गे को महत्व प्रदान किया है।

छत्तीसगढ़ी सुवा गीतों में मूलतः विरह भावना है। चूंकि यह नारी प्रधान गीत है, अतः करूण रस की स्थिति स्थल–स्थल पर चित्रित है, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि अन्य रस सुवा गीतों के फलक से अनुपस्थित है। पारिवारिक जीवन के चित्रों में सास–ननद, देवर–देवरानियों, जेठ–जेठानियों के उलाहनाओं में हास्य रस की कहीं–कहीं निर्मल छटा है।

लोकमन में उपजा स्वर–साहित्य लोककंठों में विराजता है, टिकता है। ग्रन्थों में ग्रंथित होने की यह चिन्ता नहीं करता। किसने संग्रहित कर दिया, इसका भी लोकचित को पता नहीं हो पाता। इसे ही लोक साहित्य कहा जाता है। गद्य–पद्य दोनों में इसकी समान गति होती है। भाव और शब्दावली का अक्षय भंडार और स्त्रोत उसके पास हैं जो कभी सूखता नहीं। इसकी एक विशेषता यह है कि युग परिवर्तन के साथ अपने स्वर–भावों को बराबर बदलता रहा है। युगों के स्वर उसके साथ सहस्त्राब्दियों से जुड़ते रहे हैं। यह स्वर नियोजन कभी सुनियोजित ढंग से नहीं हुआ। यह कैसे हुआ, इसको कोई जान नहीं सकता। जुड़ने के बाद ज्ञात होता है कि यह भी जुड़ गया। वह सबका है, सबके लिए है। साहित्य इसी से प्रेरणा और प्राण प्राप्त करता है। आज प्रायः वर्तमान साहित्य जनता के लिए अबुझ और अनुपयोगी बन गया है। उसमें पाठक को रस, प्रेरणा, चेतना अथवा आनन्द की प्राप्ति नहीं होती जिसकी अपेक्षा साहित्य से की जाती है। फलतः वह आमजन से दूर हो गया है। यह बिडंबना ही है कि जो साहित्य आमजन का होने का दावा करता है, उसमें आमजन को आत्मानुभूति नहीं होती, आत्मानंद नहीं मिलता। इसका कारण है लोक से दूरी, अलगाव। अतिविशिष्ट बनने की प्रवृत्ति प्रबल होकर जब भी आमजन से दूर होगी, साहित्य इस विकृति का शिकार होगा। बहुत सारा प्राचीन साहित्य आज विलुप्त है, क्योंकि इसमें लोक को अलग रखा गया। जो लोक से जुड़ा रहा, वह कालजयी बना।

संदर्भ–ग्रन्थ

1.डॉ.श्रीनाथ शर्मा – जनजातीय समाजशास्त्र, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2007.
2.साईश्वरी कोल – जनजातीय विकास के नवीन आयाम, ए.पी.एच. पब्लिशिंग कारपोरेशन, नई दिल्ली, 1993.
3.डॉ.रशिदा बेगम – जनजातीय संस्कृति, समाज वैज्ञानिकी, रीवा।